वैदिक दान

कृष्णचन्द्र विरमानी

ओ३म्

वैदिक दान

लेखक और प्रकाशकः—

कृष्णचन्द्र विरमानी

डेरा इस्माईलखान

(उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त)

सम्वत् १९८४ सन् १९२७

प्रथम वार २०००, मूल्य ।=)

विरजानन्द प्रेस मोहनलाल रोड लाहौर में
बाबू जगत्नारायण चोपड़ा बी० ए०
के अधिकार से छपा।

प्रेमोपहार

श्री..

....जी के

कर कमलों में समर्पित।

मिति..............................



कृष्णचन्द्र विरमानी

विनय

प्रिय पाठक गण !

दान-धर्म्म का वैदिक आदर्श बहुत उच्च है। इसी के आधार पर वर्णाश्रम धर्म्म और समाज-तत्व स्थित रहता है। जैसे वृक्ष की स्थिति और उन्नति में जल का प्रयोजन है, वैसे ही समाज रूपी महावृक्ष की स्थिति और उन्नति में दान का प्रयोजन है। दान का दूसरा अर्थ धन-वितरण है जिस के सदुपयोग से चारों वर्ण अपने २ धर्म्म पर इस प्रकार से स्थित रहते हैं जिस प्रकार से घर की छत पायों पर थमी रहता है। सुपात्र विद्वान् ब्राह्मण दान द्वारा ही अपने जीवन निर्वाह से निश्चिन्त रह कर ज्ञान का उपार्जन करते थे और फिर उसी उपार्जित ज्ञान-धनको समाज-सेवा में स्वच्छन्दता पूर्वक वितरण कर देते थे। जब तक इस प्रकार का उपार्जन और वितरण शास्त्र रीत्यानुसार होता रहा, तभी तक यह देश सुखी रहा, परन्तु जब से धन के संग्रह और वितरण की प्रणालीका बिगाड़ हुआ, तभी से मानो समाज-तत्व पर कुठाराघात हुआ है और सर्व-लोक-हितकारी कार्य्यों और संस्थाओं की इति श्री हुई है। मुझे एक बात का अवश्य खेद है कि इस पुस्तक में मुझे कहीं २ दान-प्रणाली की दुरवस्था के कारण आधुनिक तीर्थ स्थानों की वर्तमान दशा पर कड़ी समालोचना करनी पड़ी है, परन्तु यह समालोचना किसी निन्दा के भाव से प्रेरित होकर नहीं

की गई किन्तु हिन्दु जाति की दुरवस्था पर प्रकाश डालने और उसके सुधार की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिये ही मैं वैसी समालोचना करने पर सर्वथा विवश था। फिर भी यदि कोई बात मेरी इच्छा विरुद्ध कहीं अनुचित लिखी गई हो, तो उसके लिये मैं क्षमा का प्रार्थी हूँ।

एक बात मैं अपने विषय में भी कहना चाहता हूं। वह यह कि मैं अपनी अयोग्यता को स्वयं भली प्रकार अनुभव करता हूं और यही एक प्रधान कारण था कि मैं अपने चिरकाल से एकत्रित किये हुए विचारों को आर्य भाषा में लेख-बद्ध करने का साहस न कर सकता था। परन्तु मेरे कई एक मित्रों की प्रेरणा ने मुझे इस निबन्ध को पुस्तकाकार प्रकाशित करने के लिये विवश कर दिया। अतः मैं आशा करता हूँ कि सहृदय पाठक मेरी सब प्रकार की त्रुटियों को क्षमा करते हुए केवल मेरे भाव को ही अपने हृदय में स्थान देंगे।

यदि हिन्दी साहित्य के प्रेमी तथा वैदिक सिद्धान्तों के अनुमोदक महाशय मेरा उत्साह बढ़ाते रहेंगे, तो मैं अपने को कृतकृत्य समझूँगा। और शीघ्र ही अन्य विषयों पर भी लिखने का साहस कर सकूँगा।

डेराइस्माईल खान
६ फाल्गुन सं० १९८३
१७ फर्वरी सन १९२७

विनीत—
कृष्णचन्द्र विरमानी

॥ ओ३म् ॥

समर्पण

मैं यह छोटी सी पुस्तक अपने पूज्यपाद स्वर्गीय चचा श्रीयुत लाला देवीदास जी विरमानी की पवित्र स्मृति में भेंट करता हूं। आप बड़े शुद्ध-चित्त, सरल हृदय, सत्य प्रिय, उदार, गुणग्राही, निराभिमानी, सच्चरित्र, और स्पष्ट-वक्ता थे। छल और कुचाल का तो आप में लेश मात्र भी न था। आपका सिद्धान्त था कि जब तक दान प्रणाली का सुधार न होगा, समाज और देश का सुधार होना असम्भव है। यही बात आप अपने व्याख्यानों में भी प्रायः कहा करते थे। आपका मेरे साथ घनिष्ठ स्नेह था और उसी का स्मरण चिरस्थायी करने का इससे बढ़ कर और क्या उपाय हो सकता है कि यह निबन्ध मैं आपको पवित्र स्मृति में अर्पण करूं। यह आपके एक प्यारे पुत्र की स्नेहमयी भेंट है।

विनीत—

कृष्णचन्द्र विरमानी।

विषय-सूची

❀ ओ३म् ❀

वैदिक दान

धनोपार्जन का विधान

निर्धनता का जीवन व्यतीत करना वेद की आज्ञा के विरुद्ध है। वेद में मनुष्यों को अपना धन सम्पत्ति और वैभव आदि बढ़ाने की स्पष्ट आज्ञा पाई जाती है। "यह जगत् मिथ्या है, धन कमाना पाप है" ऐसा विचार केवल निकम्मे मनुष्यों का है। जब से इस प्रकार के अवैदिक विचारों का प्रचार हमारे तत्व ज्ञानियों (?) ने किया है, तभी से भारत वर्ष में सार्व जनिक जीवन का सर्व नाश हुआ है। वेद और समस्त आर्य्य ग्रन्थों में धन प्राप्त करने और विविध सुखों के साधन एकत्रित करने पर पर्य्याप्त बल दिया गया है।

देखिये:—

१—त्वं विश्वस्य धनदा असि० ॥

ऋग्वेद ७। ३२। १७

तू सब का धन देने वाला है।

२—मयि धारयताद्रयिम्० ॥

अथर्व० ३ । ५ । २

मुझ में धन धारण कर।

३—नाभिरहं रयीणां० ॥

अथर्व० १६ । ४ । १

मैं धनों का केन्द्र बन जाऊं। अर्थात् मेरे चारों ओर धन धान्य हो। यह इच्छा प्रत्येक मनुष्य को करनी चाहिये।

४—मयि देवा द्रविणमायजन्ताम्० ॥

अथर्व० ५ । ३ । ५

उत्तम गुण मुझ में धन लावें।

५—धाता दधातु नो रयिम्०

अथर्व० ७ । १७ । १

परमेश्वर हमको धन देवे।

६—पतिं देवि राधसे चोदयस्व०

अथर्व० ७ । ४७ । ३

हे देवी ! पति को धन सम्पति के लिये आगे बढ़ा।

७—मानो अकुने पुरु हूव योनौ०

ऋग्वेद १ । १०४ । ७

हे इन्द्र ! हमें धन धान्य से शून्य घर में मत रख।

८—अथोऽन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥

यजु० ३ । ४३

हमारे घरों में अन्न के ढेर लगे हों।

६—वृषा चोदस्व महते धनाय० ॥

ऋ० १ । १०४ । ७

हे सुख वर्षाने वाले ! बहुत प्रकार के धनों की प्राप्ति के लिए प्रेरणा कर।

१०—अथर्व वेद ३ । १५ । का "वणिक् सूक्त" है जो सम्पूर्ण रूप से धन सम्पादन करने के लिये प्रोत्साहित करता है। उदाहरणार्थ हम यहां केवल दो चार ही मन्त्र उद्धृत करते हैं:—

(क) इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न एतु पुर एता नो अस्तु ।
नुदन्नरातिं परिपंथिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥ १ ॥

मैं वणिक्, इन्द्र को प्रेरित करता हूँ, वह हमारे पास आवे और हमारा (पुरः—एता) अगुआ होवे। शत्रु, डाकू, मृग आदि को दूर करता हुआ वह स्वामी मुझे धन देने वाला होवे।

(वणिक्-बनिया, क्रय विक्रय करने वाला)

(इन्द्र -प्रभु, राजा, स्वामी, ऐश्वर्य्य वान्)

(ख) ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावा पृथिवी संचरन्ति ।

ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धन-माहरामि । २ ।

जो देवों के जाने के बहुत मार्ग द्युलोक और पृथिवी के बीच में चलते हैं, वे दूध से मुझे तृप्त करें जिस से (क्रीत्वा) क्रय विक्रय करके धन ले आऊं ।

(देव-यान=सायणाचार्य्य जी लिखते हैं कि "दीव्यन्ति व्यवहरन्ति इति देवा वणिजः; ते यत्र यान्ति ते देवयानाः" देव शब्द का अर्थ यहां बनिये हैं । वे जहाँ से जाते हैं उन मार्गों को "देवयान" कहते हैं । व्यापारियों के आने जाने योग्य मार्ग । देवयानों द्वारा धन सम्पादन करने से दूसरा भाव उत्तम धर्म्म युक्त साधनों द्वारा इकट्ठे करने का भी समझा जाता है ।

(ग) शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु०

(शुनं-नः-अस्तु) सुखदाई हो हमारे लिये (प्र-पणः, विक्रयः, च) क्रय विक्रय और (प्रति पणः मा फलिनं कृणोतु) और लेन देन का व्यवहार मेरे लिये लाभ से युक्त करे ।

ऐसी प्रार्थना है जिस का तात्पर्य्य यह है कि लेन देन के काम में मुझे घाटा टोटा न हो प्रत्युत मुनाफ़ा वा लाभ ही हो ।

(घ) येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धन मिच्छमानः । तस्मिन्मइन्द्रो रुचिमादधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥

हे देवो ! धन से धन की इच्छा करता हुआ मैं जिस धन से क्रय विक्रय करता हूँ, उस में इन्द्र आदि देव (मे रुचिं) मेरी रुचि (आदधातु) रखें ।

(ङ) येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः । तन्मे भूयो भवतु मा कनीयो० ॥

धन से धन की इच्छा करने वाला मैं जिस धन से क्रयविक्रय करता हूं, वह मेरे लिये बहुत होवे और कभी कम न पड़े ।

इन मन्त्रों में व्यापार आदि द्वारा धन की वृद्धि का निर्देश किया गया है । व्यापार में ऐसे साधनों का प्रयोग करना चाहिये जिन से हमें अधिक से अधिक लाभ हो और घाटा टोटा न पड़े ।

११—कृषि की महिमा में ऋग्वेद १० । ३४ । १३ में द्यूत की निन्दा करते हुए स्पष्ट आदेश किया गया है कि—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ॥

अर्थात्-जूआ न खेलो । किन्तु कृषि करते हुए आनन्द से धन सम्पादन करो ।

१२—अथर्व वेद के उन्नीसवें काण्ड का ३१ वां सूक्त सारे का सारा धन ऐश्वर्य की वृद्धि का ही उपदेश करता है:—

(क) एषा धनस्य मे स्फातिमादधातु सरस्वती०

(एव) वैसे ही (धनस्य) धनको (मे) मुझे (स्फातिम्) बढ़ती (आ) सब ओर से (दधातु) देवे (सरस्वती) विज्ञान-वती विद्या ।

(ख) मयि द्रविणानि नियच्छतु ०

परमेश्वर मुझे अनेक धन नित्य ही देवे ।

(ग) रयिरसि रयिं मे धेहि ० ॥

तू धन-रूप है, मेरे लिये धन स्थापित कर ।

(घ) त्वमस्मासु धेहि रयिं चनः सर्ववीरं नियच्छ रायस्पोषाय प्रतिमुंचे अहम् ०

तू हम लोगों के बीच हम सब को वीर बनाने वाला धन दे और दृढ़ कर। मैं तुझ को धन की वृद्धि के लिये स्वीकार करता हूं। इस प्रकार वेद में अनेक मन्त्र हैं जिन का उपदेश धन को दूर रख कर दरिद्रता से निर्वाह करने के लिये नहीं है किन्तु इस भाव का वेद में बल पूर्वक खण्डन किया गया है। जैसे:—

१३—न पापासो मनामहे नारायसो ० ॥

ऋग्वेद ८ । ५० । ११

(न पापासः) न तो पापी बन कर और (न अरायसः) न दरिद्री बन कर हम (मनामहे) स्मरण करें ।

१४—अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ०

ऋग्वेद १० । १५५ । १

हे धन हीन, विरूप, कुरूप, और सदा आक्रोश करने वाली दरिद्रते ! निर्जन पर्वत पर जा, अर्थात् हमारे हां से निकल जा।

१५—चतो इतश्चत्तामुतः सर्वा भ्रूणान्यारुषी ।

अराय्यं ब्रह्मणस्पते तीक्ष्णशृंगो दृषन्निहि०

ऋग्वेद १० । १५५ २

दारिद्र्य को (इतःचत) यहां से दूर करो (अमुतःचत) वहां से भी दूर करो (सर्वा भ्रूणानि) सब आशाओं को (आरुषी) नाश करने वाला दारिद्र्य है।

१६—उत्तिष्ठेतः किमिच्छन्तीदमागा अहं त्वेडे

अभिभूः स्वाद् गृहात् ।

शून्यैषी निऋते याजगन्थोत्तिष्ठाराते प्रपत मेह

रंस्थाः ॥ अथर्व० १४ । २ । १९

(निऋते) हे अलक्ष्मी, दरिद्रते यहां से दूर होजा, क्या [अमंगल] इच्छा करती हुई तू इस घर में आई है। मैं तुझे निकाल देता हूँ विजयो हो कर अपने घर से, हे शून्य चाहने वाली जो तू आई है उठ खड़ी हो बाहिर निकलजा,यहां न ठहर।

१७—शतहस्त समाहर सहस्र हस्त संकिर

अथर्व वेद ३ । २४ । ५ में लिखा है कि हे सौ हाथों वाले ! तू सम्यक प्रकार से धन संग्रह कर और हे हजारों हाथों वाले तू सम्यक् रीति से धन बखेर। दो हाथों से भी मनुष्य अद्भुत

कार्य्य कर सकता है परन्तु धन उपार्जन करनेके लिए ईश्वर ने सौ हाथों की शक्ति मनुष्य को प्रदान की है। यहां "सौ हाथों" का आशय 'अनेक" साधनों से है अर्थात् सकड़ों उपायों से मनुष्य धन कमाने का यत्न करे।

परन्तु एक भाव इस मंत्रमें विलक्षण है,वह यह कि धन येन केन प्रकारेण कमाना मनह है। अन्याय और अधर्म्मसे धनोपार्जन करने का निषेध है, इस लिये वेद ने जहां धन प्राप्त करने की आज्ञा दी है वहाँ यह चेतावनी भी करदी है कि धन को "सम्यक् रीति" से अर्थात् धर्म्मानुसार ही प्राप्त करना चाहिये। यही भाव अथर्व वेद ७। ११५। ४ में पाया जाता है:—

रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्०

(रमन्ताम्) बढ़ें (पुण्या लक्ष्मीः) पवित्र सम्पत्तियें (याः) जो (पापीः पाप की हैं (ता) उन को (अनीनशम) मैंने नाश कर दिया है इस का भावार्थ यह है कि वह धन पवित्र हो. अन्याय से कमाया हुआ न हो।

श्री व्यास जी भी युधिष्ठिर से यही कहते हैं कि —

अन्यायात् समुपात्तेन दान धर्मो धनेन यः।
क्रियते न स कर्त्तारं त्रायते महतो भयात ॥

अन्याय से उपार्जित धन से जो दान धर्म्म का अनुष्ठान किया जाता है वह उस दाता का पाप जनित महत् भय से परित्राण नहीं कर सकता है। इस लिये दान के लिये और धर्म्म के

लिये कभी भी अन्याय पूर्वक धनोपार्जन नहीं करना चाहिये। ऐसी पाप की कमाई को दान में देने से पुण्य लाभ नहीं हो सकता, किन्तु अन्याय जनित पाप का फल भोगना पड़ता है। इस लिये यदि धन दानकी सामर्थ्य न हो तो दान देना आवश्यक नहीं है, किन्तु दूसरे नाना प्रकार के उपायों से ही यदि मनुष्य किसी दुःखी का दुःख मोचन कर सकता है, तो वही पुण्यमय दान है। यही भाव महाभारत अध्याय ९० अश्वमेध प्रकरण में स्पष्ट पाया जाता है।

सहस्रशक्तिश्च शतं शतशक्तिर्दशापि च।
दद्यादपश्च यः शक्त्या सर्वे तुल्य फलाः स्मृताः॥

जो हज़ार की शक्ति वाला यदि सौ देवे, सौ की शक्ति वाला दश देवे, और जो अपनी शक्ति अनुसार केवल जल ही देवे, इन सब का फल तुल्य ही कहा है।

तात्पर्य्य, किसी अवस्था में भी अपनी जीविकार्थ अथवा परिवार जनों के भरण पोषण के लिये भी अन्याय पूर्वक धनोपार्जन नहीं करना चाहिए। यदि अन्याय पथ पर चल कर जीवन धारण करना हो, तो वह वास्तव में जीवन नहीं है, प्रत्युत मृत्यु है। इसी प्रकार यदि अन्यायोपार्जित धन के दान से ही धर्म सञ्चय करने और पुण्य लाभ करने का भाव हो, तो यह दान वस्तुतः अधर्म्म और पाप है।

धन का उपयोग

अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि धन कमाने का उद्देश्य क्या है, अर्थात् धन क्यों उपार्जन किया जाय? इस प्रश्न का उत्तर हमें अपने पूर्वजों के जीवनों में ही मिल जाता है। रघुवंश पुस्तक में कवि कालिदास ने रघुकुल की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि '**त्यागाय संभृतार्थानां**' (जो दान के लिये धन कमाते थे) अर्थात् रघुकुल वाले धन कमाते ही इस हेतु से थे कि उस धन से दान किया जाय।

महाभारत वनपर्व में महाराज युधिष्ठिर शौनक ऋषि से कहते हैं कि:—

भरणार्थन्तु विप्राणां ब्रह्मन् काङ्क्षे न लोभतः ॥

हे ब्रह्मन्! मैं धन की इच्छा केवल विद्वान् ब्राह्मणों के पालन करने के लिये करता हूँ, अपने किसी स्वार्थ के लिये नहीं।

वेद में भी यही भाव पाया जाता है:—

१—दानाय राधः समर्थयस्व०

ऋग्वेद २। १३। १३।

दान के लिये बहुत धन धारण कर।

२—धन साता धन सातये स्फातिं नियच्छतु० ।

अथर्व० १६ । ३१ । ८ ।

(धन सात) धनों का दाता, परमेश्वर (धन सातये) धनों के दानके लिये (स्फातिम्) बढ़ती (नियच्छतु) नित्य देवे । अर्थात् धनों का दाता ईश्वर हमें दान के लिये ही धन देवे ।

३—त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय०

अथर्व० ३ । २० । ५ ।

(देव) हे दानशील ! तू हम में से दान शील पुरुष को दान के लिये धन दे ।

यहाँ दान के लिये ही धन प्राप्त करने का आदेश है ।

४ जहाँ अथर्व वेद में "**शत हस्त समाहर**" लिखा है वहाँ उसी मंत्र में यह भी लिखा है "**सहस्रहस्त संकिर**" हे हजारों हाथों वाले ! तू सम्यक् रीति से धन का दान कर। इस मंत्र में दो तीन भिन्न २ भाव हैं परन्तु हमने यहाँ पर केवल दान विषयक भाव ही दिखलाना है । हाथ के दो मुख्य कर्म हैं । (१) धन इकट्ठा करना और (२) धन का दान करना । इस मन्त्र में धन संग्रह करने के लिये मनुष्य को "सौ हाथों वाले" विशेषण से सम्बोधन किया गया है । जिस का मतलब यह है कि कि तू "शतहस्त" होकर धन का सम्यक् रीति से उपार्जन कर, छल कपट द्रोह आदि साधनों से धन की प्राप्ति मत कर ।

और फिर दान देने के लिये "हज़ार हाथों वाले" कह कर सम्बोधन किया गया है। इस प्रकार उपार्जन करना और दान करना यह दोनों ही वैदिक भाव हैं। परन्तु धन संग्रह करने की अपेक्षा दान करने का माहात्म्य दशगुणा अधिक है। हाँ, एकबात इन दोनों कर्मों में सामान रूप से है। वह यह कि जैसे धन के उपार्जन में "सम्यक् रीति" का विधान है वैसे दान में भी है। अर्थात् धर्म्मानुसार धन की प्राप्ति करे और धर्म्मानुसार ही उस का दान करे। दान सदैव ही करनो चाहिये और "सहस्र-हस्त" होकर अर्थात् उदार हो कर करना चाहिये। संकुचित भाव से दान करने में श्रद्धा की न्यूनता प्रकट होती है। इसलिये दान सदा श्रद्धा पूर्वक ही देना चाहिये, यहाँ यही आशय है।

इस मन्त्र में एक और भाव भी पाया जाता है। दान देनेके लिये यहाँ "संकिर" शब्द का प्रयोग हुआ है। "सम्" उपसर्ग है, इस का अर्थ है "सम्यक् रीति" अर्थात् अच्छी प्रकार से और "किर" पद "कृ विक्षेपे" इस धातु से बना है जिस का अर्थ है "विक्षेप अर्थात् फैंक देना'। यह नियम है कि जिस पदार्थ को फैंक दिया जाता है वह तुच्छ समझा जाता है और उसमें ममता का भाव नहीं रहता। इसी प्रकार इस वेद वचनानुसार हमें दान निर्भय हो कर करना चाहिये। "सम्यक् रीति" का भी यही अभिप्राय है।

"सम् किर" शब्द यहां बड़ा रहस्यःपूर्ण है। इसी एक शब्द से दान देना और किस भाव से देना यह दोनों बात हमारी समझ में

आजाती हैं। वेदकी परिभाषा में इसे "शब्द का वीर्य्य" कहते हैं। इस वेद मन्त्र में धन कमाना और दान द्वारा धन का सदुपयोग करना लिखा है। क्योंकि जिसके पास धन ही न होगा, वह उसका दान ही क्या करेगा ? इसलिए पहिले न्याय और धर्म से धन अवश्य कमाना चाहिए और फिर उसे दान में ही व्यय करना चाहिए। जिसने विद्या का दान करना हो, वह स्वयं ब्रह्मचर्य्याश्रम में विद्या प्राप्त करे और जिसने द्रव्य का दान करना हो, वह द्रव्य का ही संचय करे। नियम यह है कि जो पदार्थ जिसके पास होता है, उसी का वह दान कर सकता है, अन्य का नहीं। आय के बिना व्यय नहीं हो सकता, यह एक निश्चित सिद्धान्त है।

५—ऋग्वेद दशम मण्डल के १०७ तथा ११७ दो सूक्त सम्पूर्ण इसी दान की महिमा का वर्णन करने वाले हैं। उदाहरणार्थ देखिये : —

पृणन्नापिरपृणन्तमभिष्यात्०

ऋग्वेद १० । ११७ । ७

(पृणन) देने वाला (आपिः) बन्धु (अपृणन्तम) न देने वाले को (अभिष्यात) पीछे छोड़ जाता है, अर्थात देने वाला न देने वाले से आगे बढ़ जाता है और उससे अधिक मान प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है।

६—उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थु०

ऋग्वेद १०।१०७।२

दानी सदा उच्च स्थान पाते हैं।

७—दक्षिणावन्तो अमृतत्वं भजन्ते।

ऋग्वेद १।१२५।५

दानी मनुष्य अमर हो जाते हैं।

८—अपृणन् मर्डितारं न विन्दते।

ऋ० १०। ११७। १

न देने वाला रक्षक को नहीं पाता। अर्थात् जो स्वयं नहीं देता, उसको भी कोई सहायक नहीं मिता। स्वार्थी कंजूस मक्खी चूस की कोई सहायता नहीं करता।

६—प्रजापतेर्वा विक्रमाननु विक्रमते य उप हरति।

अथर्व ६। ६। २। १२

(एषः—वै) निश्चय करके वही (प्रजापतेः) परमात्मा के (विक्रमान् पराक्रमों का (अनुविक्रमते) अनुकरण करता है (यः) जो (उपहरति) दान देता है।

वही परमेश्वर का सच्चा अनुयाई और महा पराक्रमी होता है जो (दान) देता है।

१०—इसी प्रकार अथव वेद में भी दान प्रशंसा की गई है-जैसे:—

स पचामि स ददामि स यजे स दत्तान्मा यूषम्॥

अथर्व० ६।१२३।४

(सः) वह (पचामि) मैं पकाता हूँ (सः) वह (ददामि) मैं दान करता हूं (सः) वह (यजे) मैं यज्ञ करता हूं (सः) वह मैं (दत्तान दान देने से (मा न (यूयम) पृथक् होऊं ॥ इसका भावार्थ यह है कि "पचामि" मैं पकाता हूं. अन्नदान की यही महिमा है कि स्वयं पका कर अन्न दान किया जाय। यही पकाया हुआ अन्न दान श्रद्धा का सूचक है "श्रद्धया देयम्" का भी यही आशय है श्रद्धा पूर्वक दान देने से चित्त की शुद्धि होती है।

दूसरा भाव यहां 'यजे' शब्द से है। आर्यों में यज्ञ की बड़ी महिमा है। प्रत्येक आर्य्य को नित्य यज्ञ करने की आज्ञा है। यज्ञ करने का भाव ही दान करना है यह दान वस्तुतः सर्वोत्तम दान है, क्योंकि यज्ञ करने से स्वार्थ का नाश होता है और इस से प्राणी मात्र का कल्याण होता है महाभारत बन पर्व में यही कहा है **'सम्विभागो हि भूतानां सर्वेषामेव दृश्यते'** गृहस्थाश्रम में सम्पूर्ण प्राणियों का भाग होता है, इसी लिये महर्षि व्यास ने युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहा है कि:—

संविभक्ता च दाता च भोगवान सुखवान्नरः।
भवत्य हिंसकश्चैव परमारोग्य मश्नुते ॥

जो खाने पीने की चीजें दूसरों के साथ बांट कर खाता है और दान शील है, वही भोगवान्. सुखवान, और अहिंसक. होता है, वही परम आरोग्य का संभोग करता है।

परमात्म देव मनुष्य को सब भोग्य पदार्थ इस लिये प्रदान करते हैं कि वह माता, पिता, भ्राता, भगिनी, पुत्र, कलत्र, बन्धु, बान्धव, भृत्य, आदिक किसो को भी वञ्चित न रखता हुआ, बाँट कर सब पदार्थों का भोग करे और अपने आश्रित गणों और दीन दुःखियों को अन्नादि का दान करे। वह अपने को भी भोग सुख से वञ्चित न रखे –न तो कृपणता करे और न अपने ही भोग विलास में आसक्त होकर रहे। प्राणिमात्र के साथ बाँट कर खाने का भाव इसी 'यजे" शब्द के भीतर विद्यमान है। वेद में लिखा है कि यज्ञ के आधार पर ही यह सारा विश्व आश्रित है:——

यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः०

अथर्व ९। १०। १४

" यज्ञ सारे संसार का केन्द्र है "

मनुष्य तो भूखे मरने पर, लड़ भिड़ कर, छीन झपट कर भोजन प्राप्त करके अपना निर्वाह कर सकते हैं,परन्तु यह मूक और असहाय पशु पक्षि आदि जीव जन्तु मनुष्य की सहायता पर अधिकतर निर्भर रहते हैं। इस लिये आर्य्यों में एक "बलिवैश्व देव यज्ञ" भी है, इसमें इन जीवों को अन्न का भाग देना लिखा है यही वैदिक सभ्यता की विशेषता है कि यज्ञ द्वारा प्राणीमात्र को दान दिया जाता है। इस लिये यहाँ "यजे" शब्द भी दान ही का महत्व प्रकट करता है और "यूषम्" शब्द द्वारा प्रत्येक

आर्य्य नर नारी को ईश्वर से हर समय यही याचना करनी चाहिये कि 'हे प्रभो ! मैं दान कर्म्म से कदापि पृथक् न होऊं', ।

११—अहं पचाम्यहं ददामि ममेदु कर्मन् करुणो ऽधि जाया ०

अथर्व० १२ । ३ । ४७

(अहम्-पचामि) मैं पकाता हूँ (अहम्-ददामि) मैं दान करता हूं, (मम जाया) मेरी धर्म्म पत्नी (इत्) भी (उ) अवश्य (करुणे-कर्मन्) करुणामय कर्म्म में (अधि) अधिष्ठित हो। भावार्थ यह है कि स्वयं पकाना और उसका दान करना अधिक श्रद्धा भाव को सूचित करता है। दान देना, वेद में यह करुणा-मय कर्म्म कहा गया है। मन के दया भाव को उन्नत करके प्रयोग में लाने का नाम दान है। इस दया-युक्त कार्य में पत्नी को भी अपने पतिदेव के साथ सम्मिलित होना चाहिये, ताकि सारे परिवार में करुणा रस का स्रोत बहता रहे। यहाँ "पति और पत्नी' से सारे परिवार का मतलब है। यही कारण है कि आर्य परिवार सदा से ही दान के केन्द्र रहे हैं और आर्य देवियाँ तो दान की साक्षात् जीती जागती मूर्तियाँ ही हैं।

इस में सन्देह नहीं कि दान सदैव श्रद्धा पूर्वक ही देना चाहिये क्योंकि इस से दाता के हृदय में "करुणा" भाव का विकास होता है और उसके अन्तः करण की शुद्धि होती है।

मनु भगवान् ने भी पाप से छूटने के जो पाँच उपाय वर्णन किये हैं, उन में एक उपाय "दान" भी है। दान देने से पापी

मनुष्य पाप की वासना से छूट जाता है इस का अभिप्राय यह है कि दीन दुःखियां की सहायता करना और अर्थियों की आशाओं को पूर्ण करना, अन्तःकरण में पवित्र भावों को पैदा करता है। गीता भी इसी भाव का समर्थन करती है:—

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्०

गीता १८—५

यज्ञ दान आदि कर्म चित्त के शोधक हैं, अर्थात् परोपकार बुद्धि बढ़ाने वाले कर्म हैं।

१२—महा भारत बनपर्व में युधिष्ठिर-व्यास सम्वाद बहुत ही रोचक है। विशेषतः दान धर्म सम्बन्ध में। धर्म राज युधिष्ठिर महर्षि व्यास से प्रश्न करते हैं कि—

भगवन् दान धर्माणां तपसो वा महामुने।
किंस्विद् बहुगुणं प्रेत्य किं वा दुष्करमुच्यते॥

हे भगवन्! दान धर्म तथा तप, इन में अधिक फल किस का होता है और वह क्या है जिस का करना बड़ा दुष्कर है?

महर्षि व्यास उत्तर देते हैं:—

दानान्न दुष्करं तात पृथिव्यामस्ति किंचन।
अर्थे च महती तृष्णा स च दुःखेन लभ्यते॥

हे तात! पृथिवी पर दानसे दुष्कर कुछ नहीं हैं। क्योंकि दानमें सब की बड़ी तृष्णा रहती है और प्राप्त भी दुःख से होता है॥

तस्माद् दुःखार्जितस्यैव परित्यागः सुदुष्करः ।
न दुष्करतरं दानात्तस्माद्दानं मतं मम ॥

इस प्रकार दुःख से इकट्ठे किये हुए धन को त्यागना बड़ा कठिन है । मैं दान को ही बड़ा समझता हूँ क्योंकि दान करना बड़ा दुष्कर है ।

पात्रे दानं स्वल्पमपि काले दत्तं युधिष्ठिर ।
मनसा हि विशुद्धेन प्रेत्यानन्त फलं स्मृतम् ।

हे युधिष्ठिर ! थोड़ा पवित्र धन भी काल में प्रसन्नता पूर्वक पात्र को देने से मरने पर अनन्त फल देता है ॥

दान देने का कर्म चाहे किसी भाव से प्रेरित होकर किया जाय, परन्तु यदि सत्पात्र को दिया जाय, तो उसका फल दाता को अवश्य मिलता है और इससे समाज की धन- सम्पत्ति बढ़ कर संसार में सुख की वृद्धि होती है । इसलिए सब शास्त्रों में मुक्त कण्ठ से दान की महिमा वर्णन की गई है :---

श्रद्धया देयम्–अश्रद्धया देयम्–श्रिया देयम्
ह्रिया देयम्–भिया देयम्–संविदा देयम् ॥

"श्रद्धा से दो, अश्रद्धा से दो, शोभा से दो, लज्जा से दो, भय से दो, और प्रतिज्ञा से दो," ।

इस प्रकार हर एक अवस्था में दान देने पर बल दिया गया है। दान समाज की स्थिति और लोक-हित के लिए "प्राण" का काम करता है। चाहे कोई भी परोपकार का कर्म्म हो, वह दान के बिना नहीं हो सकता, बल्कि हमारे व्यक्ति-गत जीवन का निर्वाह भी दान के बिना नहीं हो सकता। इस प्रकार वेद और सत्य-शास्त्रों में दान की बड़ी प्रशंसा की गई है।

क्या दान देने से धन की हानि होती है?

दान देने से धन का त्याग तो अवश्य करना पड़ता है, परन्तु उस से दाता की सम्पत्ति कम नहीं होती, ऐसा भाव लगभग सारे ग्रन्थों में पाया जाता है। वैसे तो धन हमेशा के लिए न किसी के पास रहा है और न रहेगा, आज यदि कोई धनवान् और श्रीमान् दिखाई देता है तो वही कल निर्धन हो जाता है। यदि पिता धनिक है, तो यह भी जरूरी नहीं कि पुत्र भी धनिक ही रहेगा। देखिये, ऋग्वेद १०। ११७।५ में लिखा है कि :—

ओहि वर्त्तन्ते रथ्येव चक्रान्यान्यमुपतिष्ठन्त रायः

जिस प्रकार रथ के चक्र घूमते रहते हैं, इसी प्रकार सम्पत्तियां एक से दूसरे के पास चली जाती हैं। इसलिए जब धन का चक्र किसी के पक्ष में आकर घूमे, तो दान द्वारा उसका सदुपयोग करना चाहिये। जैसा कि कहा है :—

गो दुग्धं वाटिका पुष्पं विद्या कूपोदकं धनम्।

दाना द्विवर्द्धते नित्यम दानाच्च विनश्यति !

गाय का दूध, वाटिका का फूल, विद्या, कूप का जल और धन यह पांच हमेशा दान से बढ़ते हैं और अदान से नाश होवे

हैं। यदि दूध किसी को न दिया जाय तो वह पड़ा २ फट जाता है, बाग का फूल स्वयं गिर कर सड़ जाता है और धूलि में मिल जाता है, विद्या दूसरे को पढ़ाने से बढ़ती है और अपने पास रखने से उसका अभ्यास कम होजाता है। जिस कूप के जल का निकास कम होगा, उसका जल भारी और रोगों के कीटाणुओं से पूर्ण होगा। इसी प्रकार जो धन को सत्पात्र में दान करता है, वह समाज का हित करता है और पुण्य का भागी होता है परन्तु जो दान नहीं करता, उसका धन चोरी आदि द्वारा नष्ट हो जाता है, अथवा उसका दुरुपयोग होता है। इस लिये दान द्वारा ही धन का सदुपयोग करना चाहिये।

अब हम यह दिखलाना चाहते हैं कि क्या दान से धन वस्तुत घट जाता है? और वेद का इस विषय में क्या सिद्धान्त है?:—

१—कृष न्निल्फाल आशितं कृणोति०

ऋग्वेद १० । ११७ । ७

यह दान-सूक्त का एक मन्त्र है। दान देते समय हमेशा यह सन्देह उत्पन्न होता है कि मैं दान क्यों करूं और क्यों मैं अपने धन की हानि करूं। इस सन्देह से दान करने में बड़ी बाधा पड़ती है और दान करने में प्रवृत्ति नहीं होती। इस लिये वेद ने इस संशय की निवृति कर दी है। ऋग्वेद के उपरोक्त "दान सूक्त" के मंत्र का अर्थ यह है:—

"खेती करता हुआ फाल (हल का अग्रभाग) अपने आप को तीक्ष्ण बनाता है"।

इस वेद वाक्य में हम को उदाहरण द्वारा दान का माहात्म्य बतलाया गया है। हल से यदि खेती करने का काम लिया जाता रहे, तो वह तीक्ष्ण हो जाता है, अर्थात् वह और अधिक खेती के योग्य हो जाता है परन्तु इसके विपरीत यदि वह हल बेकार पड़ा रहे, तो जङ्गार लग कर वह खेती के योग्य नहीं रहता। ठीक यही दृष्टान्त दान के विषय में घटता है। दान करने से हृदय का भाव उच्च होता है और मन में उत्साह बढ़ कर मनुष्य अधिक धन कमाने के लिये परिश्रम करता है। नाना प्रकार के साधनों का प्रयोग करता हुआ वह अपनी शक्तियों का विकास करता है। हल चलाने से हल घिसता जरूर है परन्तु तीक्ष्ण होकर अपना कार्य्य करने में अधिक उपयोगी हो जाता है। हम नित्य प्रति श्वास प्रश्वास लेते हैं, अपने भीतर के श्वास को बाहिर फैंकते हैं। परन्तु यह "फैंकना और त्याग करना" हमारी हानि के लिये नहीं है, किन्तु हमारे जीवन के लिये जरूरी है। जब तक भीतर का श्वास बाहिर नहीं निकाला जाता, तब तक बाहिर का श्वास भीतर नहीं लिया जा सकता। इसी प्रकार धन सम्पति प्राप्त करने और बढ़ाने का उपाय दान और धन का त्याग ही है।

इसी भाव से कहा गया है कि:——

१—उपार्जितानां वित्तानां त्याग एवहि रक्षणम्

धन का त्याग ही वास्तव में धन की रक्षा है।

२—उतो रयिः पृणतो नोपदस्यति०

(उतो--उ--इति) उधर (पृणतः) देने वाले का (रयिः) धन (न-उपदस्यति) नहीं घटता है।

भावार्थः—'दान देने वाले का धन नहीं घटता' यह वेद का स्पष्ट सिद्धान्त है।

महात्मा कबीर ने जो यह कहा है कि "दान दिये धन ना घटे, नदी न घट्यो नीर" यह वेद के आशय की ही प्रतिध्वनि है। धन सम्पत्ति का घटना तो दूर रहा, वेद कहता है कि दान से धन की वृद्धि होती है। देखिये—

३—यो गृहवे ददात्यन्न कामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति याम हूता०

"जो दुर्बल, कृश और अन्न की कामना से भ्रमण करने वाले, घर में आये हुए के प्रति देता है, उस दाता के पास योग्य समय पर दान करने के लिए (अरं भवति) पर्य्याप्त धन हो जाता है।"

(४) होतृषदनं हरितं हिरण्यं

अथर्व० ७। १००। १

(होतृषदनम्) दाता का घर (हरितम्) हरा भरा और (हिरण्यम्) सोने से भरा रहता है।

५—दाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातु मक्षितां०

अथर्व० ७। १७। २।

ईश्वर दान शील मनुष्यों को ही आदर योग्य अक्षय जीविका देवे।

यहाँ तात्पर्य यह है कि परमात्मा दान शील मनुष्यों के आगे जीविका और धन के अक्षय भंडार खोल देते हैं। दानी का धन कभी क्षय नहीं होता।

९—प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति।

अथर्व० ९। ६। २। ११

अर्थ—निश्चय से इस गृहस्थी का गृहस्थ रूपी यज्ञ विस्तार को प्राप्त होता है, जो गृहस्थी अतिथी को अन्न का उपहार अर्थात् भेंट करता है॥

परन्तु इस शर्त पर धन बढ़ सकता है यदि इसका सुपात्र में दान किया जाय। इस के लिये देखिये कैसा उत्तम उदाहरण दिया गया है:—

सुक्षेत्रे वापयेद्बीजं सुपात्रे निक्षिपेद् धनं।
सुक्षेत्रे च सुपात्रे च ह्युप्तं दत्तं न नश्यति॥

इसका भावार्थ यह है कि सुपात्र को दान देना ऐसा है जैसे उत्तम क्षेत्र में बीज बोना और एक २ दाने से असंख्यात दानों का लाभ करना। वास्तव में यह "दान देना" नहीं है, किन्तु "दान लेना" है। जो दाना अपने आप को गुप्त रूप से उत्तम भूमि के गर्भ में समर्पित कर देता है, वही अंकुरित होता है और

लाखों गुणा विस्तार को प्राप्त होता है। इसी प्रकार सुपात्र में दिया हुआ दान, गुप्त रूप से फलीभूत होता है और अत्यन्त विस्तृत होता है। यही जीवन का परम पुरुषार्थ है, क्योंकि विस्तृत होना और फैलना जीवन का, और संकुचित होना मृत्यु का चिह्न है। इस के विपरीत जो धन कुपात्र में दिया जाता है, वह अवश्य नाश को प्राप्त होता है, जैसे ऊसर भूमि में बोया हुआ बीज भीतर ही भीतर सड़ता और गलता है। इसी प्रकार वेद में अनेक मन्त्र आते हैं जिन में दान देने से धन की हानि होने का बल पूर्वक खण्डन किया गया है॥

दान किन्हें दें, किस लिये दें, और क्या दें ?

लोक-हित, देश-हित और जाति-हित दान का मुख्योद्देश्य है। सामाजिक जीवन का प्राण रूप यही दान है। जितनी भी महिमा वेद तथा आर्ष शास्त्रों में दान की वर्णन की गई है, उसका आधार उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर पर है। इस समस्या को हमारे पूर्वजों ने अपने जीवनों से हल किया हुआ था। वेद में इन प्रश्नों का अनेक स्थलों पर बड़ी उत्तमत्ता से विवेचन किया गया है। गीता मनुस्मृति और महाभारत आदि पुस्तकों में भी इन का विस्तार किया गया है। वेद में कहीं संकेत रूप से और कहीं स्पष्ट रूप से भी इन प्रश्नों का हमें उत्तर मिलता है। देखिये:—

१—भद्रा रातिः।

ऋग्वेद ८। १९। १९

"हमारा दान अच्छा हो" केवल इतना कह कर संकेत किया गया है। इस से "अच्छा" और "बुरा" दो प्रकार के दानों का हमें ज्ञान अवश्य होता है। कई स्थलों पर स्पष्ट रूप से भी बतलाया गया है कि दान किन्हें दिया जाय ? जैसे:—

२—इदं धनं निदधे ब्राह्मणेषु० ।

अथर्व० ११ । १ । २८

इस धन को मैं ब्राह्मणों में धरता हूं ।

३—इममोदनं निदधे ब्राह्मणेषु०

अथर्व० ४ । ३४ । ८

इस ओदन को मैं ब्राह्मणों में स्थापन करता हूं ।

४—ब्राह्मणे दद्यात् ॥

अथर्व० ३ । २८ । २

५—ब्राह्मणे देयमाहुः ॥

अथर्व० ५ । ५ । ७

"धन ब्राह्मण को देना चाहिये" यहां ब्राह्मणों को धन धान्य देने का विधान है । परन्तु विचारणीय यह है कि "ब्राह्मण कौन है" ? दान देने से पूर्व इस प्रश्न पर विचार कर लेना चाहिये ।

मनु जी ने छः निम्न कर्म्मों से "ब्राह्मणत्व" माना है (१) वेद पढ़ना (२) वेद पढ़ाना (३) दान करना (४) दान लेना (५) यज्ञ करना (६) यज्ञ कराना ।

इन छः कर्मों को "जो कोई" करता है वही "ब्राह्मण" है ।

उसको अवश्य दान देना चाहिये, क्योंकि 'दान लेना' भी ब्राह्मण का एक कर्म्म है । इस से 'मूर्ख' को दान देने का स्वयमेव निषेध हो जाता है । मनु जी ने स्पष्ट कह दिया है, कि जैसे ऊसर भूमि में बीज बोने वाला फल को प्राप्त नहीं होता

वैसे अनपढ़ नाम धारी ब्राह्मण को दान देने वाला अपने धन का नाश करता है। जैसे पत्थर की नाव में तैरने वाला मनुष्य डूब जाता है वैसे मूर्ख को दान देने से दान देने वाला और दान लेने वाला, दोनों डूब जाते हैं, अर्थात् अधोगति को प्राप्त होते हैं।

आज दान की कुप्रथा के कारण मूर्खों की संख्या हमारे देश में दिन प्रति दिन बढ़ रही है। लाखों और करोड़ों रुपये का दान मूर्ख, निरक्षर भट्टाचार्य, जन्माभिमानी ब्राह्मणों को दिया जाता है। जब तक ऐसे लोगों को धन मिलता रहेगा, तब तक मूर्खों की संख्या में कमी न आवेगी —वस्तुतः यह दान नहीं है। इसको दान कहना ही 'दान' शब्द का निरादार करना है। जब इन लोगों को बिना परिश्रम किये और बिना पढ़े लिखे ही धन मिल जाता है, तो क्या जरूरत है कि वह पढ़ने का कष्ट सहन करें। किसी ने ठीक कहा है:—

"जिसको मिले यौं–वह परिश्रम करें क्यौं"

यह बात सर्वथा मिथ्या है कि आर्य्य लोग ब्राह्मणों को दान देने के विरोधी हैं। जो धर्म्मात्मा, विद्वान, और कर्म्म काण्डी हैं, जो स्वयं विद्या पढ़ते हैं और दूसरों को पढ़ाते हैं, जो स्वयं यज्ञ करते हैं, और दूसरों के हां कराते हैं, जो अपना आचार व्यवहार वेदानुकूल रखते हैं, ऐसे पुरुषों को ब्राह्मण और देवता मान कर उनका पूजन सत्कार और दान दक्षिणा आदि से सेवा करना, आर्य्य लोग अपना मुख्य कर्त्तव्य समझते

हैं। यही वेद का आशय है और यही वेद पढ़े ब्राह्मणों को दान देने का अभिप्राय है कि वह आर्थिक दृष्टि से निश्चिन्त होकर वेदों का स्वाध्याय करेंगे और दूसरों को पढ़ा कर जगत् का उपकार करेंगे।

४ —शिक्षेय मस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे।
यदहं गोपतिः स्याम् ॥

अथर्व० २०।२७।२

अर्थः—(शचीपते) हे बल के पति प्रभो! (यद् अहम्, यदि मैं (गोपतिः स्याम्) [गो = वाणी-पृथिवी-गौ] वाणी का पति अर्थात् विद्वान् हो जाऊं, या पृथिवी-पति अर्थात् धन का स्वामी हो जाऊं, तो (अस्मै मनीषिणे) इस मनीषी = बुद्धिमान् और संयमी विद्यार्थी के लिये (शिक्षेयम्) शिक्षा का दान करूं, और (दित्सेयं) धन का दान करूं॥

यहां भावार्थ यह है कि जो स्वयं विद्या का पति है वही दूसरों को भी विद्या का, शिक्षा का दान करे। और जो धन का स्वामी है वह धन का। परन्तु नियम यह है कि विद्यादान अधिकारी को ही किया जाय—वह बुद्धिमान् हो, विचार शक्ति रखता हो, जिस से गुरु का पुरुषार्थ और अमूल्य समय निष्फल न जाय। शिष्य संयमी भी हो, वीर्य्य की रक्षा करता हुआ विद्या अध्यायन करे, ब्रह्मचर्य्य व्रत का भली भांति पालन करता रहे, ऐसे सुयोग्य और सुपात्र शिष्य को पढ़ाना, यह उच्च कोटिका दान है।

स्मरण रहे कि केवल रुपया, पैसा, और द्रव्य का दान ही दान नहीं है, किन्तु विद्या का दान भी एक अच्छा दान है। मनु भगवान् ने कहा है:—

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।

विद्या का दान सब दानों से श्रेष्ठ है। जल, अन्न, गाय, भूमि, वस्त्र, तिल, स्वर्ण, घृत, आदि सब दानों से ब्रह्म दान श्रेष्ठ है। इसका कारण यह है कि :—

अन्न दानं परं दानं विद्या दानामन परम् ॥
अन्नेन क्षणिका तृप्तिर्यावज्जीवन्तु विद्यया ॥

अर्थ :—अन्न का दान बड़ा दान है, अन्न से भी विद्या का दान बड़ा है। अन्न से क्षण भर अर्थात् अल्प काल तक तृप्ति होती है और विद्यासे जीवन पर्य्यंत तृप्ति रहती है। ठीक यही भाव एक अन्य स्थल पर भी पाया जाता है :—

अन्नदः सुखमाप्नोति सुतृप्तः सर्व वस्तुषु।
भूमिदानात् परं नास्ति विद्या दानं ततोऽधिकम् ॥

जो अन्न दान करता है वह दूसरी सारी वस्तुओं के दाता की अपेक्षा सुतृप्त होकर सुख लाभ करता है, भूमि दान से परे और कोई दान नहीं है। विद्या दान उससे भी उत्कृष्ट है।

यहां अभिप्राय यह है कि जिस वस्तु के दान से जितने अधिक काल तक ग्रहीता सुतृप्त रहता है, उतना ही वह दान अधिक ठहरता है। विद्या दान को सर्वश्रेष्ठ कहने का भी यह कारण है कि

जैसे सूर्य का प्रकाश जगत् से अन्धरे को भगा देता है, ऐसे विद्याका प्रकाश भी अज्ञान रूपी अंधकार का नाश कर देता है। विद्या द्वारा ही मनुष्य को कर्तव्याकर्तव्य का विवेक होता है। विद्या ही से ईश्वर का ज्ञान होता है। विद्या से मेधा बुद्धि का विकाश होता है, विद्या प्राप्त करके मनुष्य अपनी आजीविका भी लाभ करता है और संसार में अपनी कीर्ति को विस्तृत कर सकता है।
इस से ग्रहीता का ऐहिक और पारलौकिक मंगल होता है। इस लिये विद्या का दान सर्वोत्तम दान समझा गया है।

यह तो हुआ विद्या दान के सम्बन्ध में। धन के दान में भी "मनीषी" को ही देने का विधान है। ठीक इसी भाव को दर्शाने वाला एक और वेद मंत्र भी है। देखिये:—

श्रीणामुदारो धरुणोर यीणां।
मनीषिणां प्रार्पणः सोम गोपाः॥

ऋग्वेद १०।४५।५

अर्थ—(रयीणाँ) धनों का (धरुणः) धारण करने वाला तथा (श्रीणाँ) धनों का (उदारः) उदार अर्थात् मुक्त हस्त से दान करने वाला (मनीषिणाँ) बुद्धिमानों को (प्र+अर्पणः) विशेष कर अर्पण करनेवाला (सोम–गो–पा) सोम का रक्षक, विद्वान् का रक्षक है।

भावार्थ—जो धनों का धारण करनेवाला अर्थात् प्राप्त करने वाला होगा, वही धनों का दान करेगा। जो अपना धन "मनीषी" विद्वान्, और संयमी के अर्पण करेगा, वही विद्वानों का रक्षक होगा। यही आशय इस वेदमंत्र का है। "मनीषी" शब्द का अर्थ यहाँ "विद्वान, बुद्धिमान्" है। इस के विपरीत जो आलसी, निर्बुद्धि, विचार हीन, मनका संयम न करने वाले, दुर्व्यसनी, दुराचारी, परोपकार न करने वाले हैं, ऐसे लोगों को दान नहीं देना चाहिये। क्यों कि वे धन को पा कर उल्टा जगत्में अनर्थ करेंगे॥

हमारे हाँ अतिथि सेवा का बड़ा माहात्म्य समझा जाता है और यह आर्य्यों का एक नित्य कर्म है। यहाँ तक आज्ञा है, कि अतिथि को पहिले अन्न खिला कर फिर गृहस्थी को स्वयं खाना चाहिये। जैसेः—

१—तस्मात् पूर्वो न अश्नीयात्०

अथर्व० ९।६।३।७

२—स चाति सृजेज्जुहुयान्न चाति सृजेन्नजुहुयात्

यदि अतिथि के खाने से बच रहे तो खाये, नहीं तो न खाये, इस प्रकार अतिथि को अन्न आदि देने की वेद में आज्ञा है। और देखियेः—

३—अशितावत्यतिथावश्नीयात्०

अथर्व० ९।६।३।८

अर्थ—(अशितावति) खा लेने पर ही (अतिथौ) अतिथि के (अश्नीयात्) खावे, अर्थात् अतिथि को खिला कर ही गृहस्थी खावे ।

४—अतिथि से पहिले खा लेने में क्या हानि होती है, यह बात अथर्व० ९ । ६ । २ । १ में स्पष्ट कर दी गई है ।

इष्टंच वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽ-
तिथेरश्नाति ॥

अर्थ—(एषः) वह (गृहस्थ) (वै) निश्चय करके (इष्टम्) इष्ट सुख (चच) और [पूर्तम्] अन्न दान आदि को [गृहणाम्] घरों के बीच [अश्नाति] भक्षण [अर्थात् नाश] करता है [यः] जो [अतिथेः पूर्वः] अतिथि से पहिले [अश्नाति] खाता है ।

परन्तु जैसे "ब्राह्मण" शब्द से जन्म के ब्राह्मणों की भ्रान्ति हो रही है वैसेही "अतिथि" शब्द से भी यह तात्पर्य्य लिया जाता है कि "जो भी" गृहस्थी के हाँ आ जावे, वही "अतिथि" है और वही पूज्य है। परन्तु वेद में अतिथि का लक्षण निम्न लिखित है: –

एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियः०

अथर्व० ९ । ६ । ३ । ७

अर्थ—[एषः वै] वह निश्चय से [अतिथिः] अतिथि है, [यत्] जोकि [श्रोत्रियः] श्रोत्रिय = वेद वेत्ता है ॥

वेद के जानने वाले ज्ञानी परिडत को अतिथि कहते हैं, यह स्पष्ट है

जो आप्त पुरुष, अर्थात् पूर्ण विद्वान्, सत्यवादी, सत्योपदेष्टा, धर्म्मात्मा, शुद्ध अन्तःकरण वाले, पुरुषार्थी, ईश्वर भक्त, आलस्य, प्रमाद, राग, द्वेष, और ईर्षा रहित हैं, जो केवल जगत् के उपकारार्थ देशान्तरों में भ्रमण करके गृहस्थियों को सत्यधर्म्म का उपदेश करते हैं और विद्या की वृद्धि और अविद्या का नाश करना जिन का मुख्य प्रयोजन है, केवल ऐसे अतिथियों को अन्न आदि का दान देना वेद विहित धर्म्म है। जिन गृहस्थियों के द्वार पर से ऐसे सुपात्र अतिथि खाली चले जाते हैं वह पाप के भागी होते हैं। ऋग्वेद १० । ११७ । ३ में लिखा है कि:—

केवलाऽघो भवति केवलादी ।

अकेला खाने वाला पापी बनता है।

इसी वेदमन्त्र का अनुसरण गीता ने किया है:—

भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्म कारणात् ।
गीता ३ । १३

अर्थ—जो लोग केवल अपने लिये ही पकाते हैं, वे पापी पाप ही खाते हैं।

मनुस्मृति में भी इसी मंत्र की हमें प्रतिध्वनि सुनाई देती है:—

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्म कारणात् ।
यज्ञ शिष्टाशनं ह्येत त्सतामन्नं विधीयते ॥
मनु० ३ । ११८

जो केवल अपने लिये अन्न पकाता है, वह निरा पाप ही खाता है और जो यज्ञ आदि से बचा हुआ भोजन है, वह सज्जनों का भोजन है। इसी भाव को फिर दोहराया गया है किः—

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यंवामृत भोजनः।
विघसो भुक्त शेषं तु यज्ञ शेषं तथामृतम् ॥

मनु० ३। २८०

अर्थ—सर्वदा "विघस" भोजन करने वाला वा "अमृत" भोजन करने वाला होवे। विद्वानों को भोजन करा चुकने पर जो "शेष" रहता है, उस "भुक्त शेष" को विघस कहते हैं और "यज्ञ शेष" को अमृत कहते हैं।

वेद में भी यही कहा गया हैः—

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्न कामाय०

ऋग्वेद १०। ११७। ३

अर्थ—वही सच्चा भोजन करता है, जो घर में आए हुए अन्नार्थी को देता है। और देखिये :—

जिस समय युधिष्ठिर बन को जाने लगे, तब कुछ एक ब्राह्मण उन को विदा करने आये। उन ब्राह्मणों में एक ब्रह्म ज्ञानी शौनक नाम का ब्राह्मण भी आया। जिस ने युधिष्ठिर को उपदेश दिया, कि वन में सन्तोष से रहना और धन के चले जाने पर अधीर न होना। युधिष्ठिर उत्तर देता है, कि मैं धन के मोह में आसक्त नहीं हूं। मुझे केवल इस बात का दुःख है, कि गृहस्थी हो कर मैं ब्राह्मणों और अतिथियों की सेवा से वञ्चित हो गया हूं। फिर वह कहते हैं—

विघसाशी भवेत् तस्मात् नित्यञ्चामृत भोजनः।
विघसो भुक्त शेषन्तु यज्ञ शेषं तथामृतम् ॥

इस का अर्थ वही है जो हम ऊपर लिख आये हैं । महाभारत शान्तिपर्व में भी यही श्लोक भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर शुकव्यास संवाद द्वारा कहा है । इसी प्रकार सच्चे अतिथियों को भोजन कराने मे पुण्य और उन को भोजन न करा कर स्वयं अन्न खा लेने से गृहस्थी को पाप लगता है, ऐसा सब शास्त्रों का मत है ।

हमारे पूर्वज, अतिथि को अन्न दिये बिना इकेला खालेना कितनी सीमा तक पाप समझते थे, इस का उदाहरण हमें भरत के जीवन में मिलता है । भरत ने माता कौशल्या को यह विश्वास दिलाने के लिये कि राम के बनवास में मेरी कुछ भी अनुमति न थी, कई एक शपथ खाई थीं । उन शपथों में से एक शपथ "इकेले भोजन" करने से पाप लगने के सम्बन्ध में भी है, जो इस प्रकार है:—

पुत्रैर्दासैश्च भृत्यैश्च स्वगृहे परिवारितः ।
स एको मिष्टमश्नातु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥

अपने घर में पुत्रों से, दासों से, और दूसरे पोष्य जनों से घिरा हुआ वह अकेला स्वादु अन्न को खाये जिसकी अनुमति से आर्य्य (राम) बन में गया हो ।

कठोपनिषद् का प्रसङ्ग ही दान और अतिथि सेवा से आरम्भ होता है । नचिकेता का पिता "वाजश्रव" नाम से

प्रसिद्ध था। "वाज" का अर्थ अन्न है और "श्रवस" नाम यश और कीर्त्ति का है, अर्थात् अन्न के बहुत दान करने से जिस का यश हो रहा था। इस लिये उसका नाम "वाजश्रव" था उस ने एक बार "सर्ववेदस" नाम का यज्ञ किया। इस यज्ञ में सब पदार्थ उस ने दान में दे दिये; परन्तु जब नचिकेता ने देखा कि पिता जी निकम्मीं और बूढ़ी गाय वेदपाठी ब्राह्मणों और सुपात्र ऋत्विजों को देने लगे हैं, तो उस नचिकेता ने इस का विरोध किया; तिस पर पिता की आज्ञा से नचिकेता को एक ब्रह्मज्ञानी, वेदान्त विद्या के प्रसिद्ध आचार्य्य यम के पास भेज दिया गया। आचार्य्य के द्वार पर जाकर नचिकेता तीन दिन भूखा प्यासा पड़ा रहा, क्यों कि यमाचार्य्य जी कहीं परदेश गये हुए थे। उन की धर्म्मपत्नी ने भोजन आदि के लिये बहुत कुछ कहा किन्तु नचिकेता ने आचार्य्य की अनुपस्थिति में अन्न जल स्वीकार नहीं किया। अन्त को जब तीन दिन के पश्चात् यमाचार्य्य जी पधारे, तो उन की धर्म्मपत्नी ने आते ही कहा कि:—

"महाराज! आप के घर में एक अतिथि ब्राह्मण आयाहुआ है, जो अग्नि के समान बड़ा तेजस्वी और कान्तिमान् है। घर में आये हुए अतिथियों की गृहस्थी लोग हर प्रकार से आव भगत करते हैं, इस लिये आप भी पहिले उन्हीं का आतिथ्य करें।

इस के अनन्तर यमाचार्य जी की स्त्री ने अतिथि सेवा न करने का पाप कहा है कि —

आशा प्रतीक्षे सङ्गतं सूनृतांचेष्टा पूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्। एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्प मेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥

कठ० १। ८

अर्थ—जिस के घर में बिना खाये पिये ब्राह्मण निवास करता है, उस अल्प बुद्धि वाले पुरुषकी निम्न चीजें नाश हो जाती हैं:—

(१) आशा = मन की अभिलाषा (२) प्रतीक्षे = अज्ञात वस्तु की प्राप्ति की प्रतीक्षा (३) सत्संगति से होने वाला फल (४) उत्तम वाणी (५) इष्टा पूर्ते = यज्ञादि वेदिक कर्म्मों का फल (६) पुत्र सम्बन्धि लोगों का सुख (७) पशूंश्च = गाय, बैल, भैंस, घोड़े, बकरी, आदि पशु (८) च सर्वान् = और सब कुछ।

अतिथि को घर में भूखे रखने का इतना बड़ा भारी पाप माना गया है।

इष्टा पूर्त्त आदि का नाश कठोपनिषद् के अनुसार तो अतिथि को भूखा रखने से ही होता है, परन्तु अथर्ववेद ९। ६। ३। १ में लिखा है, कि जो गृहस्थ अतिथि से पूर्व खा लेता है उसके भी इष्टा पूर्त्त आदि का नाश होजाता है:—

इष्टंचवा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥

अतिथि के भूखा रखने का जो पाप होता है, उसका वर्णन अथर्व वेद ९। ६। २। में स्पष्ट आता है :—

सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्न मश्नन्ति।
सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति॥

प्रत्येक वही गृहस्थ भक्षण (नाश) किए हुए पाप वाला होता है जिसका अन्न अतिथि खाते हैं और प्रत्येक वही गृहस्थ बिना भक्षण (नाश) किये हुये पाप वाला होता है जिसका अन्न अतिथि नहीं खाते ॥

इसका कारण यह है कि सच्चे ब्राह्मणों का जीवन परोपकारार्थ होता है। वे गृहस्थियों के हां जाकर धर्म का उपदेश करते हैं। यदि ऐसे ब्राह्मण गृहस्थियों के द्वार पर आकर भूखे रह जायें, तो फिर धर्म्मोपदेश कौन करे ?

"जब तक उत्तम अतिथि जगत् में नहीं होते, तब तक उन्नति भी नहीं होती। उनके सब देशों में घूमने और सत्योपदेश करने से पाखण्ड की वृद्धि नहीं होती, और सर्वत्र गृहस्थों को सहज से सत्य विज्ञान की प्राप्ति होती रहती है, और मनुष्य मात्र में एक ही धर्म स्थिर रहता है। बिना अतिथियों के सन्देह निवृत्ति नहीं होती, सन्देह निवृत्ति के बिना दृढ़ निश्चय भी नहीं होता, निश्चय बिना सुख कहां ?"

(सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास)

यमाचार्य्य जी ने जब अपनी धर्मपत्नी के मुख से इतना सुना, तो शीघ्र ही नचिकेता को सम्बोधन करते हुए बोले :—

" हे ब्रह्मन ! आप नमस्कार करने के योग्य हो, इसलिए आपको नमस्ते हो। तीन दिन रात जो आप मेरे घर में बिना भोजनादि किये रहे हो, उन रातों के बदले आप मुझसे तीन वर मांग लें ताकि मेरा कल्याण हो"।

इससे ज्ञात होता है कि यमाचार्य्य जी उस अज्ञात पाप के प्रायश्चित्त रूप में तीन वर देते हैं।

महाभारत में लिखा है कि :—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रति निवर्त्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥

जिस गृहस्थी के द्वार से अतिथि लौट जाता है, वह अतिथि अपने पाप उस गृहस्थी को दे जाता है, और उसके पुण्य अपने साथ ले जाता है।

यह हमारे पूर्वजों के जीवन में अतिथि सत्कार का भाव था। वह अपने द्वार से अतिथि का खाली चला जाना महा पाप समझते थे। परन्तु हमें शोक है कि हमारे हिन्दू भाई आँखें मूंद कर हर एक को अतिथि समझे बैठे हैं। जिसका परिणाम यह है, कि धूर्त्त और पाखण्डी लोग हमारे घरों में आकर हमारा ही धन लूटते हैं, और हमारी ही देवियों को दृष्टि से देखते हैं और अवसर प्राप्त होने पर उन पर अत्याचार करने से भी

संकोच नहीं करते। ऐसे कृतघ्न धूर्त्त और पाखण्डियों का वाणी मात्र से भी सत्कार करना महा पाप है। मनु भगवान् ने इनको शठ, विडाल वृत्ति वाले, बक वृत्ति वाले, धर्म्म ध्वजी, मिथ्या विनीत, आदि घृणित नामों से पुकारा है यह लोग धर्म्म की ओट में दुराचार और पाप फैलाते हैं। ऐसों को हमेशा दूर से ही फटकार देना चाहिए।

हिन्दुओ! तुम कब तक अपने हानि लाभ से अचेत रहोगे? यदि तुम न संभले और तुमने अपनी दान की प्रथा को न बदला, तो याद रखो, फिर तुम्हारा उद्धार कठिन है। मनु जी महाराज के यह वचन कदापि मिथ्या नहीं हो सकते, कि जैसे पत्थर की नाव में बैठा हुआ मनुष्य डूब जाता है, वैसे अज्ञानी दान देने वाला और अज्ञानी दान लेने वाला दोनों ही डूब जाते हैं।

कृष्ण महाराज और दान

वैसे तो हिन्दु लोग "कृष्ण कृष्ण हरे कृष्ण" उच्चारण करने से ही अपनी मुक्ति मानते हैं, और उन को साक्षात् सोलह कला सम्पूर्ण अवतार समझते हैं, किन्तु महाराज कृष्ण चन्द्र के वचनों का तनिक भी आदर नहीं करते। यदि करते होते, तो आज हिन्दुओं में दान की इतनी दुर्दशा न होती। हिन्दु लोग तोते की भान्ति पाठ मात्र करने में बड़े कुशल हैं, परन्तु अर्थ ज्ञान से वह शून्य हैं।

देखिये, महाराज कृष्ण जी क्या कहते हैं:—

दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं नीरुजस्य किमौषधैः॥

हे कुन्ती के पुत्र! दरिद्रों अर्थात् गरीबों को दान दो। धनवानों को दान मत दो, क्यों कि रोगी को ही औषध की जरूरत है, नीरोग को औषध से क्या?

महाराज कृष्ण की युक्ति कैसी प्रबल है। इसी एक श्लोक में उन्हों ने दान का मुख्योद्देश बतला दिया है।

दान उस को देना चाहिये जो निर्धन है। जिस को जिस चीज की जरूरत हो, वही उसको दान देनी चाहिये। वास्तव में किसी की आवश्यकता को धर्म्मानुसार पूर्ण कर देने का नाम ही

"दान" है। यही दान का सब से बड़ा लक्षण है, यदि इसी कसौटी को सन्मुख रख कर दान किया जाय, तो पात्रापात्र का सारा झमेला ही मिट जाय। भूखे की भूख को मिटाने के लिये अन्न की ज़रूरत है। उसकी इस ज़रूरत को पूरा कर देना 'दान" कहाता है, नंगों का तन ढकने के लिये वस्त्र की ज़रूरत है, उस को वस्त्र का दान करना चाहिये. प्यास से व्याकुल हुए २ को जल पिलाना पुण्य मय दान है। रोगी की सेवा शुश्रूषा करना और उस को औषध आदि का देना उत्तम दान है। इसी प्रकार मूर्ख अज्ञानी को शिक्षा देना अथवा विद्या उपार्जन के निमित्त धन आदि देना, यह वस्तुतः सच्चा दान है।

वेद में कहा गया है कि:—

पृणी यादिन्नाधमानाय तव्यान्०

ऋग्वेद १०।११७।५

"धनी अर्थी को देवे"। यहाँ अर्थी से भी यही अभिप्राय है कि जिस को जिस वस्तु की ज़रूरत हो, उसे वही पदार्थ देना चाहिये।

महाराज कृष्ण चन्द्र का यह वाक्य वेद के आधार पर है। देखिये:—

क्षुध्यद्भ्यो वय आसुतिं दाः ०

अर्थ—भूखों को अन्न और रस (पान) दो॥

महाभारत में भी यही भाव पाया जाता है:—

देयमार्त्तस्य शयनं स्थितः श्रान्तस्य चासनम् ।

तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम् ॥

अर्थ—शारीरिक व्याधि से पीड़ित को शैया, थके हुए को बैठने के लिये आसन, प्यासे को पानी, और भूखे को भोजन देवे। तात्पर्य्य यह है कि जिसके लिये जो वस्तु आवश्यक हो, उस को वही देनी चाहिये । ऐसे समयोचित दान से ही दान लेने वाले का यथार्थ उपकार होता है, और दाता भी द्विगुण फल लाभ करता है ! इसलिये जिसके हां जिस वस्तु का अभाव हो, उसको उसी का दान करना चाहिये। ईश्वर भो हमको इसी प्रकार दान करते हैं:—

ऋग्वेद १०।११७।३ में लिखा है कि:—

स इद् भोजो यो गृहवे ददाति........कृशाय०

"वही उदार है जो दुर्बल को देता है"! इस प्रकार के दान का भाव सब स्थानों में पाया जाता है। वेद में "आध्राय", "रफिताय". "कृशाय", "नाधमानाय" इत्यादि शब्दों द्वारा गरीबों, कृशों, और असमर्थ लोगों को देने का विधान है। इसी प्रकार भीष्म जी ने भी शरशय्या पर लेटे हुए दान धर्म्म का उपदेश देते हुए यही कहा है कि :—

कृशाय कृत विद्याय वृत्ति क्षीणाय सीदते ।

अपहन्यात् क्षुधां यस्तु न तेन पुरुषः समः ॥

अर्थात् दुर्बल, वृत्ति हीन, दुःखित हुए, विद्यावान् की जो भूख मिटाता है, उसके समान कोई पुरुष नहीं है।

परन्तु यहाँ प्रथा ही उल्टी है। लाखों की संख्या में अनाथ बालक और विधवायें भूख से बिलक २ कर अपनी जीवन लीला समाप्त कर रही हैं। उनके पालन पोषण के लिए हिन्दुओं के पास धन नहीं रहा। अविद्या अज्ञान से दुःखी आर्य्य सन्तान को शिक्षा दिलाने के लिए तो रुपया पैसा नहीं रहा, परन्तु इन निकम्मे और निरुत्साही धूर्त्त साधुओं के लिये धन तत्काल ही आजाता है। यदि इन साधुओं की भोग सामग्री और वैभव का अनुमान करना हो, तो कुम्भ के मेले पर जाकर पता लग सकता है। इस अवसर पर लाखों की संख्या में निर्मले, उदासी, वैरागी दादूपन्थी, अवधूत, कबीरपंथी, अघोरिया, विरक्त, और नागे आदि सभी साधु और साधुनियां एकत्रित होते हैं। उनकी शान बान और ठाठ बाठ को देख कर, यह कहना कठिन है कि यह साधु सन्यासी हैं या राजे महाराजे। क्या यही सन्यासी गृहस्थों को प्रकृति की गुलामी से निकाल कर आत्मिकोन्नति का मार्ग दिखायेंगे? यह "फकीर" और "त्यागी महात्मा" लाखों की राजसी सम्पत्ति के स्वामी हैं। हाथी घोड़ों पर चढ़ते हैं। गृहस्थों से भी बढ़ कर राज दरबार में मुकद्दमे लड़ते हैं और हजारों रुपये वकील बैरिस्टरों की भेंट करते हैं, फिर भी वे इतने "त्यागी और विरक्त' हैं, कि धातु को स्पर्श करना भी घोर पाप समझते हैं।

अहा! कृष्ण महाराज की "दरिद्रान भर" इस आज्ञा का अक्षरशः पालन होरहा है!

हिंदुओ ! कब तक यह उल्टी गंगा बहती रहेगी, और कब तक तुम कृष्ण जी के वचनों का इस प्रकार से अपमान करते रहोगे ? चेतो ! चेतो ! अभी समय बहुत है ।

प्रातःकाल नित्य गीता का पाठ करने वालो ! जरा गीता का १७वां अध्याय खोल कर देखो, वहां क्या लिखा है :—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥

गीता० १७। २०

सबसे उच्चकोटि का दान "सात्विक" दान है और "सात्विक दान" का लक्षण यह है:—

"जो कर्त्तव्य बुद्धि से किया जाय, अर्थात् दान देना, मेरा धर्म है, इस विचार से किया जाय और जो (१) देश (२) काल (३) पात्र का विचार करके किया जाय, एवं जो अपने ऊपर प्रत्युपकार न करनेवाले को दिया जाय, वही "सात्विक दान" कहलाता है।

प्राचीन काल में हमारे पूर्वजों के रोम रोम में यही भाव कूट कूट कर भरा हुआ था। देखिये ! आर्ता द्रौपदी के प्रश्नों का उत्तर देते हुए महाराज युधिष्ठिर क्या कहते हैं:—

नाहं कर्म फलान्वेषी राजपुत्रि चराम्युत ।

ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत ॥

हे राजपुत्री ! मैं जो कर्म्म करता हूं उसका फल नहीं चाहता। मैं दान इस लिये करता हूं, क्योंकि "मुझे यज्ञ करना चाहिये"

युधिष्ठिर की यह यज्ञ और दान विषयक भावना गीता के उपरोक्त भाव के सर्वथा अनुकूल है। हमारे पूर्वजों के स्वभाव में ही दान देने की यही प्रवृत्ति होती थी और यही निष्कामता का दान महाराज कृष्ण के शब्दों में सात्विक दान का पहिला लक्षण है।

दूसरा लक्षण यह है कि वह दान देश, काल, और पात्र, में दिया जाता। इस का तात्पर्य यह है कि यदि किसी देश विशेष में दुर्भिक्ष का प्रकोप हो रहा हो, तो वहां अकाल से पीड़ित लोगों की रक्षा करनी चाहिये। जहाँ महामारी आदि का भयङ्कर आक्रमण हो रहा हो, वहाँ रोग की शान्ति का उपाय करना चाहिये। जिस देश विशेष में अविद्या अन्धकार का राज्य हो वहां गुरुकुल आदि विद्यालय खोल कर प्रजा जनों में विद्या का दान देना चाहिये। और "काल" से तात्पर्य यह है कि समय २ पर अनुकूल सेवा करनी चाहिये। जैसे शरद् ऋतु में अनाथ बालकों को गरम वस्त्रों का दान देना चाहिये, इत्यादि।

यह देश काल का नियम सृष्टि क्रम का नियम है। इस का उल्लंघन करने से मनुष्य कदापि सुखी नहीं हो सक्ता। "अकाल" में बोया हुआ बीज भूमि में पड़ा २ सड़ता और गलता है और दुर्गन्ध फैलाता है, परन्तु काल में बोया हुआ बीज उगता और फलता है और सारे संसार में सुख का संचार करता है।

हमें शोक है कि भारत में एक दान प्रणाली के बिगड़ जाने के कारण ही आज हजारों और लाखों सुपात्र भूखे मर रहे हैं और

इस के विपरीत मोटे ताज़े, हट्टे कट्टे, मुश्टण्डे लोग हिन्दुओं के दान पर पड़े गुलछर्रे उड़ा रहे हैं।

मुझे एक बार एक सन्यासी की लिखी हुई गीता की टीका देखने का अवसर प्राप्त हुआ। उस टीका को पढ़कर मुझे अत्यन्त खेद हुआ। उस टीका में देश का अर्थ 'हरिद्वार, कुरुक्षेत्र, काशी, मथुरा, वृन्दावन आदि "तीर्थ स्थान" लिया गया है और 'काल" शब्द का अर्थ "सोमावती अमावस्या" सूर्यग्रहण और चन्द्र ग्रहण आदिक "काल" लिया गया है और "पात्र' का अर्थ "जन्म के ब्राह्मण और साधु सन्यासी' लिया गया है। यह सत्य है "स्वार्थी दोषं न पश्यति" अर्थात् स्वार्थी लोग अपने दोष को नहीं देखते।

पाठक वृन्द! देखिये, देश काल और पात्र के भाव को स्वार्थियों ने कितना संकुचित बना दिया है। चाहे कहीं भी दुर्भिक्ष का प्रकोप हो रहा हो, चाहे देश अविद्या अन्धकार में ग्रस्त हो रहा हो, चाहे जन्म भूमि दुःखित अवस्था में पड़ी आर्तनाद कर रही हो, परन्तु इन साधु सन्यासियों का पाषाण हृदय तनिक भी द्रवित नहीं होता। इन को तो अपने तीर्थ स्थानों और मठों की रक्षा का फ़िकर है। कोई मरे, कोई डूबे, पर इन्हें तो अपने हलुवे माण्डे से काम है।

यह स्मरण रहे कि हम तीर्थ स्थानों पर दान देनेके विरोधी नहीं हैं। प्राचीन समय में तीर्थों पर दान देने की प्रथा बहुत अच्छी थी। हमारे ऋषि मुनि महात्मा लोग इन मनोहर और

एकान्त स्थानों में ज्ञान ध्यान और लोक हित क चिन्तन में निमग्न रहते थे, साधु सन्यासी परब्रह्म में लीन होकर आत्म सम्बधि जटिल समस्याओं को हल करना और जिज्ञासुओं के सन्देहों की निवृत्ति करना अपने जीवन का एक मात्र लक्ष्य मानते थे और गृहस्थी लोग भी ऐसे महात्माओं की सेवा शुश्रूषा करना और उनकी चरण रज को स्पर्श करना ही अपना सौभाग्य समझते थे। सच पूछो तो इन महात्माओं के पुण्य प्रताप से ही यह आर्य्य जाति इतने अत्याचारों और आक्रमणों के होने पर भी जीवित है। ऐसे २ महात्माओं को उन के जीवन निर्वाहार्थ दान देना प्रत्येक गृहस्थी का कर्त्तव्य होता था, परन्तु, हा शोक! आज उन्हीं पवित्र स्थानों का वायु-मण्डल ही अत्यन्त दूषित और घृणित हो रहा है। अब न वहां धर्म्म कर्म्म की मर्य्यादा रही और न वह साधु सन्यासी रहे। केवल भिक्षा वृत्ति पर मौजें उड़ाना और भगवा बाना धारण करना ही बाकी रह गया है।

इन तीर्थ स्थानों पर जाकर भव सागर से तरना तो पृथक रहा, इन स्थानों में इतने २ घोर पाप होते हैं जिनके वर्णन करने में हमें अत्यन्त खेद होता है और मेरी लेखनी में भी सामर्थ्य नही कि मैं आज कल के तीर्थ निवासी पण्डों और तिलकधारी महन्तों के चरित्रों का वर्णन कर सकूं। संसार भर के पाप उनके जीवन में देख लो। इन तीर्थ निवासी पण्डों और साधु महन्तों को देख कर हमें सन्देह होता है कि क्या यह उन्हीं प्राचीन ऋषि मुनियों के प्रतिनिधि हैं? हमें यह लिखते हुए दुःख होता है कि

इन धूर्तों ने भारत की पवित्र कीर्ति को कलङ्कित करके अन्य जातियों की दृष्टि में इसे घृणित बना दिया है।

अगस्त १९२४ के सुप्रसिद्ध मासिक पत्र "चान्द" में "सम्पादकीय विचार" के स्तम्भों में एक जबरदस्त लेख "महन्तों के व्यभिचार" शीर्षक से निकला था। हम इस लेख को पाठकों के लिये यहाँ उद्धृत करते हैं, जिस से आधुनिक तीर्थों के दुराचारों पर प्रकाश पड़ेगा और हमारे हिन्दु भाइयों की आंखे खुलेंगी। "हमारे पास सम्वाद आये हैं कि आज चित्रकूट महन्तों का क्रीड़ास्थल होरहा है। बहुत लोग विधवाओं को रख लेते हैं और दिन भर तो वह साधुओं में रामराम की रट लगाती हैं किन्तु रात्रि में उनकी काम ज्वाला तृप्त करती है। हाल में वहाँ एक विधवा को गर्भ रह गया और उसका गर्भपात भी कर दिया गया। इस प्रकार का अन्याय वहाँ बराबर होता है। अयोध्या यदि रामचन्द्र की राजधानी थी, तो आज वह निस्संदेह व्यभिचार की राजधानी कही जा सकती।

इस प्रकार यदि आप को श्रीकृष्णजी से प्रेम है तो गीता महाभारत श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों का अवलोकन कीजिये। किन्तु मथुरा वृन्दावन उन की प्रतिमा पूजन के लिये कम से कम उतने समय तक मत जाइये जब तक वहां की नारकीय लीला का पूरा संहार या सुधार न हो जाय। आपको विदित नहीं कि वहां आज कैसे २ व्यभिचार के खुले दृश्य देखने में आते हैं ? भला वहां क्यों न व्यभिचार होगा। यह तो वहां की शोभा व सुन्दरता

में गिना जाता है । क्योंकि "नटवर नागर रुबोले कृष्ण ने सोलह हजार गोपियों से वहाँ क्रीड़ा की थी" । आज दिन उनके मुश्टण्ड प्रतिनिधि महन्त गण १६ १६,२०–२० स्त्रियां से काम क्रीड़ा न करें, ता फिर वृन्दाबन में रह क्या जायगा ! ......मथुरा वृन्दाबन में विशेषतः बंगालिन विधवायें ज्यादा है और वे हा व्यभिचार की गंदगी फैला रही हैं । कोई २ महन्त २५ २५ निराश्रय विधवाओं को आश्रय प्रदान किये हुए हैं और उनके साथ व्यभिचार होरहा है, किन्तु किसी को कुछ भी सुध नहीं कि वहाँ पर क्या होता है । इसी से वहां ईसाइयो का एक अच्छा अड्डा जम गया है जिसके द्वारा नित्य प्रति १०–२० स्त्री और बच्चे ईसाई बनते जारहे हैं । फिर मुसलमान गुण्डों को भी ऐसी लावारिस स्त्रियों तथा बच्चों को उड़ाने में पूरी सुविधा मिल जाती है । आपने समाचार पत्रों से जाना होगा कि आज तारकेश्वर में कैसा सत्याग्रह मचा हुआ है. कारण वहाँ भी वही है । महन्त जी उस गृहस्थ के यहां अपना पालकी दिन दहाड़े भेज देते हैं जहां सुन्दर स्त्री रहती है । इसी से हमारा सानुनय अनुरोध है कि जब तक इन तीर्थों का सुधार वा दुराचार का पूरा प्रतिकार न हो जाते तब तक तीर्थ यात्रा मत कीजिये । तीर्थ हैं कहां ? यह तो है पिशाचों के क्रीड़ा स्थल । वहाँ जाने से आप को वही पाप लगेगा जो वेश्यागामियों को लगता है । पुण्य का तो नाम मत लीजिये । यदि जाना है तो जाइये किन्तु वहां जाकर सत्याग्रह कीजिये, महंतों की पोल खोलिये, दुराचरणों का अन्त कीजिये, और तीर्थों को तीर्थ बनाइये ।"

पाठकवृन्द ! क्या हमें इस लेख पर किसी टीका टिप्पणी करने की ज़रूरत है ? भला जो लोग जिह्वा की लालसा को रोक नहीं सकते, जो बड़े २ स्वादिष्ट और काम वर्धक पदार्थों का नित्य सेवन करते हैं, उनके लिये ब्रह्मचर्य्य व्रत का पालन करना और काम आदिक बलवान विषयों का संयम करना क्यों कर सम्भव हो सकता है ?

हिंदु जाति के वीरो ! यह हमारे पवित्र स्थानों की दुर्दशा है। धर्म्म की आढ में हमारी जाति पर कितने भयङ्कर अत्याचार हो रहे हैं। भेड़ों के वेष में भेड़िये किस प्रकार इस अनाथ जाति का खून चूस रहे हैं।

पात्रापात्र का भेद एक उदाहरण द्वारा बड़ी उत्तमता से दिखलाया गया है वह यह है कि सुपात्र का दान ऐसा है, जैसे गऊ का पालन पोषण करना, और कुपात्र का दान ऐसा है जैसे सर्प का दूध पिलाना। सत्पात्र गऊ तृण खाकर दूध देती है और कुपात्र सर्प दूध पीकर विष उगलता है।

हिंदुओ ! आर्य्य सभ्यता के रक्षको ! यह धूर्त्त महन्त गण आपकी जाति में विषैले सर्प हैं। जिन गृहस्थों के धन धान्य पर यह आनन्द लूटते हैं, उन्हीं की रमणियों को कुदृष्टि से देखते हुए तनिक लज्जित नहीं होते। वीरो ! अपना धन रूपी दूध इन विषैले सर्पों को पिलाना बन्द कर दो, क्योंकि इनके उदर में यह दूध भी विष के रूप में परिवर्तित हो रहा है। आप अपना दूध अपनी जाति के अनाथ

बच्चों को पिलाओ, जो आप के ही सामाजिक शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग हैं और जो आप की दान-प्रणाली के दूषित होने के कारण ही एक २ दाने के लिये तरस रहे हैं। आप के सोलह कला सम्पूर्ण कृष्ण भगवान् का आदेश है कि "दरिद्रान् भर०" गरीबों का पालन करो। इस लिये भगवान् के वचनानुसार अब आप का धन और आपका सदाव्रत अकाल पीड़ित देशों में लगना चाहिये। और आप के हलुवा पूरी का पैसा भी इन अनाथ बच्चों के पालन पोषण और शिक्षा में लगना चाहिये। यही आप के पवित्र तीर्थ स्थान हैं और यही आप के परम पात्र पण्डे और महन्त हैं।

हिन्दुओ! अब तो प्रमाद की निद्रा से जागो। देखो आपका यह पवित्र देश किसी समय विद्या, धर्म्म और सद्गुणों की खान था। आत्म विद्या की यह जन्म भूमि थी। संसार भर के कला-कौशल का यह केन्द्र था वैदिक सभ्यता का यही रङ्ग स्थल था परन्तु शोक! महा शोक! आज वही भारत वर्ष—हां संसार भर । गुरु भारत वर्ष, अविद्या, अधर्म्म, अनीश्वरवाद, दारिद्र्य, द्वेष, आलस्य, और प्रमाद का केन्द्र बना हुआ है। हां, ससार भर में सब से बड़ा धन धान्य से पूर्ण यह देश आज दुर्भिक्ष का सब मे बड़ा केन्द्र स्थान हो रहा है।

हिन्दुओ! अब तो चेतो। आप के देश में साधु सन्तों और भिक्षुकों की संख्या ६० लाख से भी अधिक हो रही है जरा सोचिये तो सही, जहाँ इतने निकम्मे साधु और भिख मंगे निवास करते हों, उस देश का कल्याण कैसे हो सकता है? हम नहीं

कहते कि धर्म्मात्मा, परोपकारी, सदाचारी, और कर्त्तव्य परायण साधुओं का सर्वथा अभाव हो गया है, नहीं नहीं, अभी तक इस पुण्य भूमि में सच्चे साधु मौजूद हैं और उन्हीं के तपोबल के प्रताप से यह जाति जीवित है, परन्तु उनकी संख्या इतनी थोड़ी है कि उङ्गलियों पर गिनी जा सकती है। इस में ज़रा भी अत्युक्ति नहीं है कि आधुनिक साधु - मण्डल लम्पट, गंवार, मूर्ख और व्यभिचारी मनुष्यों का समूह है इन में परिश्रम न करने वाले, हट्टे कट्टे, घर से रुष्ट होकर भाग जाने वाले, पुलिस के भय से भागे हुए, चोर, डाकू, ठग, उठाईगीरे, गठ कतरे और जरायम पेशा के आवारागर्द लोग शामिल हैं। यह लोग दिन दहाड़े हमारा धन लूटते हैं। इन से जितनी भी हानि इस देश को पहुँची है और पहुँच रही है उतनी प्रसिद्ध चोरों और डाकुओं से नहीं पहुँची। कारण यह कि पसिद्ध डाकुओं से हम भयभीत होकर सावधान हो जाते हैं और उन से अपनी हर प्रकार की रक्षा की चिन्ता करते हैं, परन्तु यह धूर्त्त लोग देवी देवताओं के नाम पर, और धर्म्म के नाम पर, नाना प्रकार के ढोंग रच कर भोले भाले लोगों का धन हरण करते हैं। यह निरुद्यमी, निरुत्साही, आलसी और मुफ़्तखोरे, हिन्दुओं के दान पर पड़े मौजें उड़ाते हैं और देश में दरिद्रता फैलाते हैं।

निस्संदेह हिन्दुओं में दान करने की बड़ी भारी शक्ति है परन्तु उस शक्ति के संशोधन की बड़ी जरूरत है। जिस समय दान प्रणाली का सुधार होगा, उस समय देश और जाति का धन

बढ़ेगा, खाने वालों के स्थान पर कमाने वालों की संख्या अधिक होगी धर्म्म के नाम पर पाप और अनाचार बन्द हो जावेंगे, दुर्भिक्ष दानव का प्रकोप भी इस शस्य श्यामला भूमि पर न रहेगा। देश धन धान्य से परिपूर्ण हो कर धर्म और लोक-हित संस्थाओं का उद्धार होगा। परन्तु यदि दान-प्रणाली का संशोधन न हुआ, तो यह स्मरण रहे कि भारतवासी इस दारुण अवस्था से कभी विमुक्त न होंगे और कोई भी शक्ति भारत को इस दीन अवस्था से नहीं निकाल सकेगी॥

इतिशम्